

आचारांग के कुछ महत्वपूर्ण सूत्र एक विश्लेषण

- डा: सुरेन्द्र वर्मा

(उपनिर्देशक : पार्श्वनाथ विद्यापीठ, बी. एच. यू.), वाराणसी

देखो और समझो ('पास')

महावीर का समस्त दर्शन अमूर्त चिंतन का परिणाम न होकर सहज प्रत्यक्षीकरण पर आधारित है। यह आवश्यक नहीं है कि जो कुछ भी महावीर कहते हैं उसे आँख बंद कर सही मान ही लिया जाए। वे बार-बार हमें संसार की गतिविधियों को स्वयं देखने के लिए कहते हैं। ('देखने' के लिए प्राकृत भाषा में 'पास' शब्द का प्रयोग हुआ है जो वस्तुतः 'पश्य' (सं०) धातु से आया है।) और इस प्रकार स्वतंत्र रूप से उन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए प्रेरित करते हैं जो स्वयं महावीर ने अपने अनुभव और प्रत्यक्ष से फलित किए हैं।

महावीर का यह आग्रह कि हम संसार की गतिविधियों को स्वयं ही देखें, एक ओर जहाँ स्वतंत्र चिंतन पर बल देता है, वहीं दूसरी ओर दार्शनिक विचार को केवल अमूर्त सोच और किताबी ज्ञान से मुक्त करता है।

महावीर हमें आमंत्रित करते हैं कि हम देखें कि इस संसार में सभी जीव दूसरे को दुःख पहुँचाते हैं, इससे समस्त प्राणी जगत एक आतंकित स्थिति में जीने के लिए अभिशप्त हैं वे कहते हैं -

पाणा पाणे किलंराति ।

पास लोए महभयं ।

(पृ० २३०/१३-१४)†

+ इस आलेख के सभी उद्धरण, मुनिश्री नथमल द्वारा संपादित और जैन विश्वभारतीय, लाडनू, द्वारा प्रकाशित आयारों से लिए गए हैं। पृष्ठ संख्या के बाद गाथा क्रमांक डाला गया है।

‘पाणा पाणे किलेसति’ - यह एक तथ्य है कि प्राणी, प्राणियों को क्लेश पहुँचाते हैं, लेकिन महावीर यहाँ जिस बात की ओर हमें विशेषकर संकेत करते हैं वह यह है कि प्राणियों का एक - दूसरे के प्रति ऐसा व्यवहार संसार में महाभय व्याप्त करता है उनकी चिंता है कि आतंक से आखिर प्राणियों को किस प्रकार छुटकारा प्राप्त कराया जाए।

जहाँ तक मनुष्य का संबंध है, विचारशील प्राणी होने के नाते, उससे तो यह अपेक्षा की ही जा सकती है कि वह कम से कम इस आतंक का कारण न बने। लेकिन ऐसा वस्तुतः है नहीं। बल्कि इस महाभय को प्रश्रय देने में मनुष्य का योगदान शायद सबसे अधिक ही हो। महावीर संकेत करते हैं कि तनिक आतुर व्यक्तियों को देखो तो। वे कहीं भी क्यों न हों, हर जगह प्राणियों को परिताप देने से बाज नहीं आते -

तथ-तथ पुढो पास, आतुरा परितावेति। (८/१५)

ये आतुर लोग आखिर हैं कौन ? सामान्यतः हम सभी तो आतुर हैं। वह बीमार मानसिकता जो व्यक्ति को अधीर बनाती है वस्तुतः उसकी देहासक्ति है। हम आतुर मनुष्य कहें, आसक्त कहें-बात एक ही है। महावीर कहते हैं, इसलिए आसक्ति को देखो। इसका स्वरूप ही ऐसा है कि वह हमारे मार्ग में सदैव रोड़ा बनती है, और फिर भी हम उसकी ओर खिंचे ही चले जाते हैं -

तम्हा संगं ति पासह।

गंधेहिं गढिया णरा, विसण्णा काम विप्पिया। (२५२/१०८-१०६)

महावीर हमें यह देखने के लिए निर्देश देते हैं कि वे लोग जो देहासक्त हैं, पूरी तरह से पराभूत हैं। ऐसे लोग बार - बार दुःख को प्राप्त होते हैं। वस्तुतः वे बताते हैं, इस जगत में जितने लोग भी हिंसा - जीवी हैं, इसी कारण से हिंसा जीवी हैं। देह और दैहिक विषयों के प्रति व्यक्ति का लगाव ही हिंसा का कारण है -

पासह एगे ख्वेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे।

एत्थ फासे पुणो पुणो।

आवंती के आवंती लोयंसि आरंभजीवी, सएसु चेव आरंभजीवी।

(१७८/१३-१५)

महावीर कहते हैं कि संसार में व्याप्त आतंक और महाभय जिस व्यक्ति ने देख और समझ लिया है, वही हिंसा से निवृत्त होने में सफल हो सकता है (पृ० ४३/१४६, १४५)। आतुर लोग जहाँ स्थान - स्थान पर परिताप देते हैं, वहीं दूसरी ओर देखे कि साधुजन संयम का जीवन जीते हैं। लज्जमाण पुढो पासां (पृ० ८/१७)। ऐसे शांत और धीर व्यक्ति देहासक्ति से मुक्त होते हैं - इह संति गया दिविया (पृ० ४२/१४६)।

संक्षेप में महावीर हमें आमंत्रित करते हैं कि हम प्रत्यक्षतः देखें कि संसार में हिंसा का कारण जो आतंक व्याप्त है उसका मूल देहासक्ति में है और इस आसक्ति को समाप्त करने के लिए संयम आवश्यक है। वे इस संदर्भ में साधुओं को लक्षित करते हैं और कहते हैं कि देखो, उन्होंने किस प्रकार हिंसा से विरत होकर संयम को अपनाया है। ऐसे लोग ही हमारे सच्चे मार्गदर्शक हैं।

क्षण को पहचानो और प्रमाद न करो

महावीर कहते हैं कि हे पंडित ! तू क्षण को जान - खणं जाणाहि पंडिए (७४/२४)।

यह जैनदर्शन का एक बहुत महत्वपूर्ण सूत्र है। प्रश्न किया जा सकता है कि यहाँ 'क्षण' से क्या आशय है? 'क्षण' मनुष्य की यथार्थ स्थिति की ओर संकेत करता है जो कम से कम संतोषजनक तो नहीं ही कही जा सकती। यदि हम अपनी और संसार की वास्तविक दशा की ओर गौर करें तो हमें स्पष्ट समझ में आ जाएगा कि -

(१) यह संसार परिवर्तनशील है और यह सदैव एक सा नहीं बना रहता। आज व्यक्ति यौवन और शक्ति से भरपूर है किन्तु कल यही व्यक्ति वृद्ध और अशक्त हो जाएगा। आयु बीतती चली जा रही है और उसके साथ-साथ यौवन भी ढलता जा रहा है - वयो अच्छेइ जोव्वणं च (७२/१२)

(२) दुःख और सुख व्यक्ति का अपना-अपना होता है, इसे भी समझ लेना चाहिए। जाणिन्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, (७४/२२)। अतः यह सोचना कि कोई भी अन्य व्यक्ति / परिजन विपरीत स्थितियों में व्यक्ति का सहायक हो सकता है, केवल भ्रम मात्र है। न तो हम दूसरों को त्राण या शरण दे सकते हैं और न ही दूसरे हमें त्राण या शरण दे सकते हैं।

नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा ।

तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा । (७२/८)

(३) परिस्थितियां बहुत कठिन हैं । व्यक्ति दिन-ब-दिन दुर्बल होता जा रहा है, उसे किसी भी क्षण मृत्यु घेर सकती है । बहुत ही कालात्मक भाषा में कहा गया है - णत्थि कालस्य णागमो (८२/६६)- मृत्यु के लिए कोई भी क्षण अनवसर नहीं है और फिर भी व्यक्ति अपने जीवन से अत्यधिक लगाव पाले हुए है। वह अपने दैहिक सुख के अनेक साधनों को जुटाता है और समझता है यह अर्थार्जन उसे सुरक्षा प्रदान कर सकेगा । वह धन एकत्रित करने के लिए स्वयं चोर लुटेरा बन जाता है किन्तु एक समय ऐसा भी आता है कि चोर और लुटेरे ही उसका धन छीन ले जाते हैं और इस प्रकार सुख का अर्थी वस्तुतः दुःख को प्राप्त होता है (८४/६६) । संसार की इस निःसारता को समझना ही 'क्षण को पहचानना है ।

अतः महावीर कहते हैं धैर्यवान् पुरुषों को अवसर की समीक्षा करनी चाहिए और मुहूर्त भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए । अंतरं च खलु इमं संपेहाए - धीरे मुहुत्तमविणो पम यए । (७२/११) वस्तुतः जिस व्यक्ति ने क्षण को पहचान लिया है वह एक पल का भी विलम्ब किए बिना अपनी जन्म-मरण की स्थिति से मुक्ति के लिए प्रयास आरम्भ कर ही देगा । कौशल इसी में है । इसीलिए महावीर कहते हैं-कुशल को प्रमाद से क्या प्रयोजन । अलं कुसलस्स पमाएणं (८८/६५) । और वे निर्देश देते हैं कि उठो और प्रमाद न करो - उट्टिए णो पमायए । (१८२/२३)

'प्रमाद' किसे कहते हैं ? प्रमाद न करने का क्या अर्थ है ? जो पराक्रम करता है, प्रमाद नहीं करता । महावीर पराक्रम के लिए प्रेरित करते हैं, प्रमाद के लिए नहीं । महावीर के दर्शन में पराक्रम का अर्थ है क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों को शांत कर देना, शब्द और रूप में आसक्ति न रखना तथा पूरी तरह अप्रमत्त हो जाना (देखें, ३३८/१५)। वैसे भी प्रमाद छः प्रकार के बताए गए हैं - १. मद्य प्रमाद, २. निद्रा-प्रमाद, ३. विषय प्रमाद, ४. कषाय प्रमाद, ५. द्युत-प्रमाद तथा ६. निरीक्षण (प्रतिलेखना) प्रमाद (स्थानांग सूत्र, ६-४४)। इन सभी प्रकार के प्रमादों से बचना ही पराक्रम है और यह पराक्रम व्यक्ति को स्वयं ही दिखाना है । इसके लिए उसे किसी अन्य से कोई सहायता प्राप्त होने वाली नहीं है ।

अतः प्रमाद न करने का एक अर्थ यह भी है कि व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए स्वयं ही प्रयत्न करे। पुरुषार्थ और पराक्रम वस्तुतः मानव-प्रयत्न में है। जैनदर्शन में किसी भी अतिप्राकृतिक और दैवी शक्ति, जिसे हम प्रायः 'ईश्वर' कहते हैं, में विश्वास नहीं किया गया है। मनुष्य अकेला आया है और अकेला ही जाएगा। उसे किसी अन्य से - ईश्वर से भी- कोई सहायता प्राप्त होने वाली नहीं है। मनुष्य का एकमात्र मित्र मनुष्य स्वयं ही है। किसी मित्र या सहायक को अपने से बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। महावीर कहते हैं - पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, कि बहिया मित्तमिच्छसि ? (१३६/६२) अतः उठो और प्रमाद न करो अनन्य और परम पद प्राप्त करने हेतु क्षण भर प्रमाद न करो - अण्णण परमं नाणी, णो पमाए कयाई वि (१३४/५६)।

जब तक कान सुनते हैं और आंखें देखती हैं, नाक सूंघ सकती है और जीभ रस प्राप्त कर सकती हैं जब तक स्पर्श की अनुभूति अक्षुण्य है - इन नाना रूप इन्द्रिय ज्ञान के रहते पुरुष के लिए, यह अपने ही हित में है, कि वह सम्यक अनुशीलन करे (७४/७५)। बाद में यह अवसर नहीं आएगा। हे पंडित, तू क्षण को जान और प्रमाद न कर।

मेधावी बनाम मंदमति

आयारो में मनुष्य के दो स्पष्ट प्रारूप बताए गए हैं - मेधावी और मूढ़ या मंदमति।

प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है मेधावी और मूढ़ मानव बुद्धि का एक माप है जिसके एक छोर पर 'मेधावी' और दूसरे छोर पर 'मंद-मति' है। लेकिन वस्तुतः ऐसा है नहीं। यह मानव बुद्धि का पैमाना न होकर व्यक्तियों के दो वर्ग हैं। मेधावी व्यक्तियों की कुछ नैतिक-चारित्रिक विशेषताएँ हैं जो मंदमति व्यक्तियों से भिन्न और उनकी विरोधी है।

मंदमति लोग मोह से आवृत्त होते हैं। ये आसक्ति में फँसे हुए लोग हैं- मंदा मोहेण पाउडा (७६/३०)। दूसरी ओर मेधावी पुरुष मोह और आसक्ति को अपने पास फटकने नहीं देते। वे इन सब से निवृत्त होते हैं। अरिइं आउट्टे से मेहावी (७६/२७)-जो अरति का - चैतविक उद्वेगों का-निवर्तन करता है, वही मेधावी है। आसक्ति मनुष्य को बेचैन करती है, अशांत करती है उसे व्यथित और उद्वेलित करती है। किन्तु मेधावी पुरुष वह है जो न चिंतित होता है न व्यथित या उद्वेलित। वह सभी उद्वेगों को अपने से बाहर निकाल फेंकता है। उनसे निवृत्ति पा लेता है।

‘अरति’ (अरइ) का अर्थ जहाँ एक ओर बैचैनी और अशांति से है, वहीं दूसरी ओर, विरक्ति या राग के अभाव को भी ‘अरति’ कहा गया है। किन्तु ‘अरिइ आउट्टे’ राग को अभाव से निवृत्ति नहीं है, वह तो स्वयं राग से - असंयम से-निवृत्ति है। संयम में रति और असंयम में अरति करने से चैतन्य और आनंद का विकास होता है। संयम में अरति और असंयम में रति करने से उसका हास होता है। ‘अरिइ आउट्टे’ संयम से होने वाली ‘अरति’ (विरक्ति) का निवर्तन है (पृ० १०६)। असंज मे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।

जो व्यक्ति मंदमति है, सतत मूढ़ है। वह धर्म को नहीं समझता। सततं मूढे धम्मं णाभिजाणइ (८८/६३)। दूसरी ओर जो व्यक्ति आज्ञा (धर्म) में श्रद्धा रखता है, वह मेधावी है-सडढे आणाए मेधावी (१४०/८०)। मेधावी सदा धर्म का पालन करता है और निर्देश का कभी अतिक्रमण नहीं करता। णिदेसं णातिवट्टेज्जा मेधावी (२०२/११५)।

आयारो में मेधावी, धीर, वीर आदि शब्द लगभग समानार्थक हैं। जो मेधावी नहीं है, वह मंदमति है; जो धीर नहीं है वह आतुर है; जो वीर नहीं है, वह कायर है। संसार में दो प्रकार के व्यक्ति है। एक वर्ग मेधावी, धीर और वीर पुरुषों का है और दूसरा मंदमति, आतुर और कायर लोगों का है। जो मेधावी हैं वे धीर भी हैं। जो मंदमति हैं वे आतुर और कायर भी हैं।

वीर पुरुष कौन है? वीर पुरुष हिंसा में लिप्त नहीं होता-ण लिप्पई छणपसण वीरे (१०६-१८०)। और मेधावी अहिंसा के मर्म को जानता है-रो मेधावी अणुग्घायणरय ख यण्णे (१०६-१८१)। इसके विपरीत कायर मनुष्य हिंसक होते हैं; विषयों से पीड़ित, विनाश करने वाले भक्षक और क्रूर होते हैं। हिंसा की अपेक्षा से कायर दुर्बल नहीं है और न ही वीर बलवान है। बसट्टा कायरा जणा लूसगा भवन्ति- विषयों में लिप्त कायर व्यक्ति ‘लूषक’ (हिंसक, भक्षक, प्रकृति-क्रूर) होता है।

धीर पुरुष धैर्यवान है। आतुर अधीर हैं। आतुर लोग हर जगह प्राणियों को दुःख और परिताप देते हैं, इसे स्पष्ट देखा जा सकता है - तत्थ - तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावेन्ति (८/१५)। इसका कारण है। आतुर मनुष्य आसक्ति से ग्रस्त होता है। यही आसक्ति मनुष्य को आशा/निराशा के झूले में झुलाती है और उसे स्वेच्छाचारी बनाती है। किंतु धीर पुरुष वह है जो इस आशा और स्वच्छंदता को छोड़ देता है - आसं च छंदं च विगिंच धीरे (८८/८६)।

आयारो जब मनुष्य के दो विपरीत गुण-धर्मी प्रारूपों का उल्लेख करता है, तो क्या वह इनको पूर्णतः एकांतिक मानता है ? क्या मेधावी सदैव मेधावी और मंदमति पूर्णतः मंदमति ही रहता है ? स्पष्टतः मेधावी और 'मूढ़' एकांतिक प्रारूप नहीं हैं । आयारों में स्पष्ट दिखाया गया है कि मेधावी पुरुष भी किस प्रकार च्युत हो कर पुनः मंदमति या मूढ़ हो जाते हैं । उत्तरोत्तर आने वाले दुःसह परीषहों को सहन न कर पाने के कारण (२३४/३२) वे अपना प्रयत्न द्वारा अर्जित किया हुआ मुनि - पद छोड़ देते हैं । इसी प्रकार मेधावी आरंभ से ही मेधावी नहीं होते । वे उत्तरोत्तर ही इस दिशा की ओर अग्रसर होते हैं ।

वस्तुतः मेधावी पुरुष ही मुनि है । मुनि का अर्थ है ज्ञानी । आयारो के अनुसार जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक (संसार) को जानता है वह मुनि कहलाता है । ऐसा व्यक्ति धर्मवित और ऋजु होता है - पण्णाणेहिं परियाणह लोयं मुणीति वच्चे, धम्मविउत्ति अंजु (११२/५) मुनि को 'कुशल' भी कहा गया है । कुशल का भी अर्थ है, ज्ञानी । कुशल अपने ज्ञान से जन्म-मरण के चक्र का अतिक्रमण कर पुनः न बद्ध होता है और न मुक्त होता है - कुसले पुण णो वद्धे, णो मुक्के (१०६/१८२)।

आत्मतुला-अंहिसक जीवन का रक्षाकवच (तावीज)

यदि हम हिंसा के गति - विज्ञान से परिचित हैं तो हमें यह समझते देर नहीं लगेगी कि हिंसा के कारण हमारा संसार नर्क बन गया है । हिंसा एक ऐसी मानसिक ग्रंथि है जिसका मोह हम छोड़ नहीं पाते, और हमारी मृत्यु का वह कारण बनती है -

ऐस खलु गंधे

एस खलु मोहे

एस खलु मारे

एस खलु णरए

(पृ० ११/२५)

जिसने हिंसा में निहित इस आतंक और अहित को देख लिया है, उसे हिंसा से निवृत्त होने में समय नहीं लगेगा । लेकिन यह 'देखना' कोरा बौद्धिक ज्ञान नहीं है । यह तो वस्तुतः एक आध्यात्मिक अनुभव है । जब तक कि हम अपने आप में अंदर से इस बात को नहीं समझते, हम बाह्य जगत में व्याप्त हिंसा को भी नहीं समझ सकते । महावीर कहते हैं - जो अध्यात्म को जानता है, बाह्य को जानता है । जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है ।

जे अञ्जत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ ।

जे बहिया जाणइ, से अञ्जत्थं जाणइ । (पृ० ४२/१४७)

यही 'आत्मतुला' है। महावीर इसी आत्मतुला के अन्वेषण के लिए हमें आमंत्रित करते हैं - एयं तुलमण्णेषिं (वही १४८)।

आत्मतुला वस्तुतः सब जीवों के दुःख-सुख के अनुभव की समानता पर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। महावीर कहते हैं कि हमारी ही तरह सभी प्राणियों को आयुष्य प्रिय है। वे सुखास्वादन करना चाहते हैं। दुःख से घबराते हैं। उन्हें बध अप्रिय है, जीवन प्रिय है। वे जीवित रहना चाहते हैं -

सव्वे पाणा वियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला

अपियवहा पियजीविणो जीविउकामा । (८२/६३)

सव्वेसिं जीवियं पियं । (८४/६४)

अंदर ही अंदर हम सब भी यही चाहते हैं। अतः महावीर कहते हैं कि तू बाह्य जगत को अपनी आत्मा के समान देख-आयओ बहिया पास (१३४/५२)

यदि हम बाह्य जगत को अपनी आत्मा के समान देख पाते हैं तो निश्चित ही हिंसा से विरत हो सकते हैं। महावीर ने अहिंसक जीवन जीने का हमें यह एक उत्तम रक्षा-कवच दिया है, जिससे मनुष्य न केवल स्वयं अपने को बल्कि समस्त प्राणी जगत को हिंसा से बचाए रख सकता है। हमारी सारी कठिनाई यही है कि हम जिस तराजू से स्वयं को तोलते हैं, दूसरों को नहीं तोलते। दूसरों के लिए हम दूसरा तराजू इस्तेमाल करते हैं। किन्तु महावीर 'आत्मतुला' पर ही सबको तोलने के पक्षधर हैं। जब तक हम दूसरे प्राणियों को भी आत्मवत् नहीं समझते, हम वस्तुतः अपनी रक्षा भी नहीं कर सकते। सबकी रक्षा में ही अपनी रक्षा भी सम्मिलित है। इसीलिए महावीर कहते हैं, सभी लोगों को समान जानकर, व्यक्ति को शस्त्र से, हिंसा से, उबरना चाहिए -

समयं लोगस्य जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए । (पृ० १२२/३)

यहां यह दृष्टव्य है कि महावीर ने हमें यह जो हिंसा-अहिंसा विवेक के लिए आत्मतुला का मापदंड दिया है, उसे किसी न किसी रूप में अन्य दर्शनों/दार्शनिकों ने भी अपनाया है। इस संदर्भ में पाश्चात्य विख्यात दार्शनिक, कांट का नाम सहज ही स्मरण हो

आता है। कांट, यद्यपि जैनदर्शन से निश्चित ही अपरिचित रहे होंगे लेकिन उन्होंने नैतिक आचरण के जो मापदंड दिए हैं उनमें से एक आत्मतुला की ओर ही संकेत करता है। उनके अनुसार मनुष्य को ठीक उसी तरह व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वह अपने लिए दूसरों से अपेक्षा करता है। कांट का कहना है कि व्यक्ति को सदैव ऐसे सूत्र के अनुसार काम करना चाहिए जो सार्वभौम नियम बन सके - **“Act only on that maxim (or principle), which thou canst at the same time will to become a universal law.** दूसरे शब्दों में हम दूसरों के प्रति कोई ऐसा काम न करें जिसे हम अपने लिए गलत समझते हों।

महावीर की ‘आत्मतुला’ के संदर्भ में यदि हम देखें तो इससे यह अर्थ निकलेगा कि यदि हमें हिंसा अपने लिए प्रिय नहीं है तो हमें दूसरों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। अहिंसा ही एक ऐसा नियम हो सकता है जिसे सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया जा सकता है, हिंसा नहीं।

हिंसा का प्ररूप - विज्ञान (Typology)

यद्यपि जैन धर्मग्रंथों में अन्य स्थानों पर हिंसा के अनेक प्ररूपों का वर्णन और वर्गीकरण हुआ है किन्तु आचार्यो में स्पष्ट रूप से हिंसा का कोई प्ररूप विज्ञान नहीं मिलता। परन्तु एक स्थल पर हिंसा की दो विभाओं (dimensions) का उल्लेख किया गया है। (४०/१४०)। इसमें कहा गया है कि कुछ लोग प्रयोजनवश प्राणियों का बध करते हैं किन्तु कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन ही बध करते हैं। इसी प्रकार हिंसा अर्थवान भी हो सकती हैं और अनर्थ भी हो सकती है। इसी गाथा में आगे चलकर हिंसा की एक और विभा बताई गई है जो हिंसा को तीनों कालों-विगत, वर्तमान और भविष्य से जोड़ती है। हिंसा इस प्रकार भूत-प्रेरित हो सकती है, वर्तमान प्रेरित हो सकती है और भविष्य प्रेरित भी हो सकती है -

अपेगे अद्वाए वहंति, अपेगे अणद्वाए वहंति

अपेगे हिंसिसु मेत्ति वा वहंति

अपेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति

अपेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति (४०/१४०)

जहां तक हिंसा की प्रयोजनात्मक (‘अद्वाए’) और अप्रयोजनात्मक (‘अणद्वाए’)

विभा का प्रश्न है, अर्थवान अथवा प्रजनात्मक हिंसा के कुछ उदाहरण इसी गाथा के आरंभ में दिए गए हैं जिसमें कहा गया है कि कुछ व्यक्ति शरीर के लिए प्राणियों का बध करते हैं तो कुछ लोग चर्म, मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, दंत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और प्राणियों की अस्थिमज्जा के लिए उनका बध करते हैं। यह स्पष्ट ही प्रयोजनात्मक हिंसा है। हिंसा करने के बेशक और भी प्रयोजन हो सकते हैं। एक अन्य गाथा, जिसे आयारो में बार-बार दोहराया गया है, के अनुसार मनुष्य हिंसा वर्तमान -

जीवन के लिए

प्रशंसा सम्मान और पूजा के लिए

जन्म-मरण और मोचन के लिए,

दुःख प्रतिकार के लिए करता है। (३६/१३०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रयोजनात्मक हिंसा के कई विवरण हमें आयारो में मिलते हैं किन्तु अप्रयोजनात्मक (अण्ड्याए) हिंसा के कोई स्पष्ट उदाहरण हमें नहीं मिलता। परंतु एक गाथा में यह कहा गया है कि आसक्त मनुष्य हास्य-विनोद में (कभी-कभी) जीवों का बध कर आनंद प्राप्त करता है -

अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मन्नति। (१३०/३२)

इसे स्पष्ट ही निरर्थक (अप्रयोजनात्मक) हिंसा कहा जा सकता है। इस प्रकार की हिंसा से मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता सिवा इसके कि वह इस प्रकार की हिंसा करके एक अस्वस्थ सुख प्राप्त करे। इस प्रकार की निरर्थक हिंसा को हम क्रीड़ात्मक हिंसा भी कह सकते हैं। आयारो के अनुसार इस प्रकार की क्रीड़ात्मक हिंसा में केवल बाल और अज्ञानी लोग की प्रवृत्त हो सकते हैं क्योंकि इससे कोई मानव प्रयोजन तो सधता नहीं है, बल्कि इससे व्यक्ति निरर्थक ही अन्य प्राणियों से अपना बैर ही बढ़ाता है।

अलं बालस्य संगेणं, वेरं वडढेति अप्पणो। (१३०/३२)

आयारो में इस प्रकार जहां एक ओर प्रयोजन-सापेक्ष हिंसा की अर्थवान और निरर्थक विभा का उल्लेख मिलता है वहीं एक दूसरी विभा, जो काल - सापेक्ष है, भी बतलाई गई है। इसके अनुसार (देखिए, ४०/१४०, ऊपर उद्धरित) (i) कुछ व्यक्ति (हमारे स्वजनों की) हिंसा की गई थी (भूतकाल) इसलिए बध करते हैं तो कुछ (ii) इसलिए कि लोग हिंसा कर रहे हैं (वर्तमान), बध करते हैं तथा कुछ (iii) इसलिए भी हिंसा में प्रवृत्त होते हैं कि उन्हें

(भविष्यमें) संभावना लगती है कि हिंसा की जाएगी।

प्रथम प्रकार की हिंसा स्पष्ट ही भूतकाल से प्रेरित हिंसा है क्योंकि विगत में कभी (परिजनों की) हिंसा की गई थी इसलिए व्यक्ति हिंसा करता है। इसे हम प्रतिशोधात्मक हिंसा कह सकते हैं। इस तरह की हिंसा में विगत हिंसा का बदला लेने के लिए हिंसा की जाती है।

द्वितीय प्रकार की हिंसा वर्तमान में हो रही हिंसा के प्रतिक्रिया स्वरूप की जाती है। क्योंकि आज कुछ लोग हिंसा में प्रवृत्त हैं इसलिए उसका जबाब देने के लिए इस प्रकार की हिंसा में प्रतिक्रिया स्वरूप, जवाबी, आक्रमण किया जाता है। इसे हम प्रतिक्रियात्मक हिंसा कह सकते हैं।

तृतीय प्रकार की हिंसा में व्यक्ति भविष्य की आशंका में, इस डर से कि कहीं हमारे ऊपर हिंसा न हो जाए, हिंसा पर उतारू हो जाता है। इस प्रकार की हिंसा को हम आशंकित हिंसा या भयाक्रांत हिंसा कह सकते हैं।

यह जानना एक दिलचस्पी का विषय हो सकता है कि आज के विख्यात मनोविश्लेषक एथिक फ्रॉम ने हिंसा के जो अनेक प्ररूप बताए हैं। उनमें भूतकाल प्रेरित (प्रतिशोधात्मक) हिंसा और वर्तमान प्रेरित (प्रतिक्रियात्मक) हिंसा का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। उन्होंने हिंसा को एक प्रकार की क्रीडात्मक हिंसा, भी बताया है लेकिन क्रीडात्मक हिंसा से उनका तात्पर्य मनोरंजन या प्रमोद के लिए हिंसा से न होकर खेलते समय (जुडो-कराटे, मुक्केबाजी इत्यादि) में जो हिंसा कभी-कभी हो जाती है उससे है। वे ऐसी क्रीडात्मक हिंसा को बुरा नहीं मानते। उसे वे जीवनोन्मुख मानते हैं।